

स्वर्गीय श्री अनिल बोर्दिया ने शिक्षा के क्षेत्र में अनेक नई पहल आरंभ कीं और इनके लिए शिक्षा और समाज से सरोकार रखने वाले शिक्षाकर्मियों एवं बुद्धिजीवियों को जोड़ा। वे स्वयं भी बहुत पढ़ते थे और सीखते रहने के लिए तत्पर रहते थे। यह संस्मरण बोर्दिया जी के साथ काम करने के अनुभवों के जरिए उनके व्यक्तित्व के अनकहे पहलुओं से पाठकों को रूबरू कराता है।

# सीखते-सिखाते रहे ऐसे थे हमारे अनिल बोर्दिया

शिवरतन थानवी

दूर से छवि बनी थी कठोर प्रशासक हैं। मैं तब स्कूलों में अंग्रेजी व्याख्याता था। गांवों में भी रहा, शहरों में भी रहा। लिखने का शौक था। कहानी, कविता, लेख, टिप्पणी और समीक्षाएं लिखता था। शिक्षा पर भी लिखा करता था। सरकार के लिए सुपाच्य लिखता तो नाम से लिखता और लीक से हटकर ऐसा लिखता जो सरकारी विभाग को असहज लगे, एकदम आलोचनात्मक, तो छद्मनाम से लिखता। सन् 1958-59 की बात होगी, एक साप्ताहिक में स्तंभ ही लिखना शुरू कर दिया 'शिक्षक बोलता है' किसी छद्मनाम से।

गांव-शहर बदली-बदली घूमता-घूमता 1964 में बोरुंदा, जिला जोधपुर पहुंचा तब तक शिक्षा निदेशालय में निदेशक पर पर श्री अनिल बोर्दिया आसीन हो चुके थे। आते ही उन्होंने शिक्षा व्यवस्था और शिक्षकों के हित की दृष्टि से सोचना शुरू कर दिया था, शिक्षकों की वरिष्ठता सूची बनवाने को पहली प्राथमिकता में ले लिया था और चौतरफा विकास की दृष्टि से कई-कई योजनाओं के स्वप्न देखने प्रारम्भ कर दिए थे।

एक दिन 1965 में एक ऐसे ही स्वप्न को साकार रूप देने की दृष्टि से बोरुंदा आ धमके। अपने मित्र विजयदान देथा के घर ठहरे, स्कूल आए, मेरी कक्षा में बैठकर मुझे अंग्रेजी पढ़ाते देखा और शाम को विजयदान देथा 'बिज्जी' के घर मुझे बुला लिया। बोले, "आपको बीकानेर बुला लें तो कोई आपत्ति तो नहीं? कोई विशेष काम आपको सौंपना है।"

## परिचय

प्राथमिक शिक्षक से शिक्षा विभाग में संयुक्त निदेशक तक 40 वर्ष कार्य करने के बाद 1988 में सेवानिवृत्त हुए। 'शिविरा' पत्रिका (मासिक) एवं 'नया शिक्षक'/'टीचर टुडे' (त्रैमासिक) के 13 वर्षों से पूर्णकालिक संपादक हैं।

घोर आश्चर्य। पूरे राजस्थान की शिक्षा का मालिक एक मामूली शिक्षक को उसके गांव आकर पूछता है कि वह बीकानेर आने को राजी है कि नहीं? गांव-गांव बदली-बदली घूमने वाले शिक्षक को और क्या चाहिए? लेकिन उनके काम करने के तरीके की इस घटना से साफ समझ आता है कि वे कितनी निष्ठा से काम करते थे और जिसको कोई काम सौंपना होता था उसकी सुविधा-असुविधा का कितना ध्यान रखते थे। उन्होंने कहा कि कुछ काम है, अभी तो आइए और शिक्षकों की वरिष्ठता सूची निर्माण अभियान में हमारी मदद कीजिए। मुझसे जो विशेष अपेक्षा है उसका कुछ संकेत उन्होंने यह कहकर दे दिया कि

आपको लिखने और संपादन का शौक है तो कुछ ऐसा ही काम सौंपेंगे। उन दिनों में शहर में होता तो प्रायः एक साप्ताहिक के संपादन में शौकिया भाग ले लिया करता था।

मैं समझ गया। मुझको लिखने और संपादन का शौक है यह ये जान चुके हैं, तभी तो मुझे वैसा ही काम सौंपने का सोचा है। लेकिन जाना कैसे? और जाना तो यह क्यों नहीं जाना कि मैं तो शिक्षा विभाग और माध्यमिक शिक्षा बोर्ड की नीतियों व कार्यों के विरोध में छद्मनाम से लिखता आया हूँ? फिर ज्यों-ज्यों मैं इनके निकट आता गया त्यों-त्यों मुझे समझ आता गया कि ये शिक्षा में सचमुच विकास के पक्षधर हैं और यह भी जानते हैं कि परिवर्तन बिना विकास संभव नहीं, और यह भी कि परिवर्तन लाने वाला वर्तमान स्थिति की आलोचना तो करेगा ही। आलोचना करने वाला जितना स्वतंत्र होगा, जितना निर्भीक होगा, उतना ही मौलिक विचार प्रकट करेगा। मेरी आलोचनात्मक प्रवृत्ति की चर्चा वे सुन चुके थे, यह अब साफ था, लेकिन यह मेरा अनुमान ही था। अनुमान की पुष्टि कई वर्षों बाद हुई जब अंतरंग क्षणों की एक बातचीत में एक दिन उन्होंने मुझे बताया कि जहां भी जाते उपयुक्त व्यक्ति की इच्छा व्यक्त करते, यों करते-करते चार जगह जब मेरा नाम सुना तो मुझे लेने बोरुंदा गांव आ गए। जिन्होंने नाम बताया उन्होंने आगाह कर दिया था कि मेरी शिक्षा में रुचि तो गहरी है लेकिन मेरा लेखन लगभग सारा आलोचनात्मक है।

बोर्दिया जी के व्यक्तित्व का सबसे महत्वपूर्ण पहलू यह था कि वे आलोचना की कीमत जानते थे। खुलकर आलोचना करने को प्रेरित करते थे। संवाद में विश्वास करते थे। जानते थे कि जहां संवाद होगा वहां पक्ष-विपक्ष के कई रूप सामने आएंगे ही। और यों जहां विचार-मंथन होगा वहां प्रगति का कोई नया मार्ग भी खुलेगा। इस मामले में वे बहुत साफ थे। इसी कारण उन्होंने मुझे चुना और मुझे काम करने की पूरी स्वतंत्रता दी और मैंने जो किया उसे समर्थन दिया।

समर्थन देने, स्वतंत्रता देने के लिए भी साहस चाहिए। पहले ही दिन की घटना है। ये मुझे बता रहे थे कि विभाग अपना एक गजट निकालता है जिसमें विद्यालयों की सूचना के लिए सरकार और विभाग के आदेश परिपत्र छपा करते हैं। हम चाहते हैं कि हम उसे एक शैक्षिक पत्रिका का रूप दें जो केवल विद्यालयों में ही नहीं जाए बल्कि जिसे शिक्षक भी (नाम मात्र मूल्य पर) खरीदें और पढ़ें। अब इसमें क्या-क्या होगा, इसकी रूपरेखा बनाने के लिए इन्होंने कागज निकाला और उसमें कुछ लिखने लगे। मैं बोला, “जब मुझे काम सौंप रहे हैं तो मेरे काम की रूपरेखा मुझे ही बनाने की पूरी छूट दीजिए। आप कहेंगे वह तो आदेश होगा, मेरे काम में हस्तक्षेप होगा।” बोर्दिया जी की सहनशीलता और हिम्मत देखिए कि उस पन्ने को उन्होंने उसी वक्त फाड़ डाला। तब मैंने कहा, “देखिए, काम मैं तभी करूंगा जब आप मुझे काम करने की संपूर्ण स्वतंत्रता देंगे।” एक क्षण भी सोचे बिना बोर्दिया जी बोले, “मंजूर, लेकिन टेम्पर्ड विद् ऑथोरिटी!” हम दोनों हंस पड़े। मैंने कहा, “ऑथोरिटी को पसंद नहीं हो तो हम बैंक टु पविलियन। मेरी तो कोशिश यही रहेगी कि आपको मेरा काम अच्छा लगे।” और हमारे बीच तय रहा कि हम समय-समय पर पत्रिका की दशा-दिशा पर बात करते रहेंगे, सामग्री उनको पहले दिखाने की अनिवार्यता नहीं रहेगी, छपने के बाद उनकी जो भी राय होगी सुझाव के रूप में दे देंगे। सुझाव मानने न मानने को मैं पूर्ण स्वतंत्र रहूंगा। असहमति की दशा में परस्पर बात होगी, कभी वे मेरी बात मानेंगे, कभी मैं उनकी बात मानूंगा और नहीं मान सकूंगा तो जहां वे भेजेंगे वहीं जाने को तैयार रहूंगा। यह सब मैंने ही कहा। उन्होंने तो मात्र ‘मंजूर’ और ‘टेम्पर्ड विद् ऑथोरिटी’ ही कहा था। उस ‘ऑथोरिटी’ को यों कहकर मैंने स्पष्ट किया और उन्होंने सहमति दी, मात्र मुस्करा कर।

उनको व्यक्ति की पहचान खूब अच्छी थी। मेरे एक बाबू को मुझ से थोड़ी देर बात कर मुझे एक कागज देकर लौटते देखा तो तत्काल स्टेनो को बुलवाकर उसे बदल देने का आदेश लिखवाने लग गए। कुछ पल की बातचीत में ही उन्होंने उसका निकम्पापन पहचान लिया। मैं नया था। मुझे उनका निर्णय मेरे काम में दखलंदाजी लगा। अपनी स्वतंत्रता और स्वायत्तता बचाने को सावधान, सतर्क हो गया। नादानी समझो। मैंने जब कहा कि मैं असंतुष्ट नहीं तो आप क्यों हटाते हैं, तो तत्काल मान गए। लेकिन उसी व्यक्ति को हैरान होकर आखिर कुछ समय बाद मुझे हटाना ही पड़ा। कितनी सही पहचान थी उन्हें व्यक्ति की और मुझ जैसे

तुच्छ प्राणी की नाफरमानी सहन करने की भी कितनी शक्ति थी उनमें! सबको साथ लेकर चलने की तथा सहयोगी पर पूरा भरोसा करने की भावना के कारण ही वे ऐसा कर पाते थे। मेरी नादानी और स्वायत्ता बचाने की मेरी निरर्थक सावधानी मुझे बाद में समझ आई।

विभागीय कार्यों व नीतियों के खिलाफ मैं कभी संपादकीय, कभी छद्मनाम के मेरे स्तंभ और कभी साहसी पाठकों-लेखकों के पत्रों व लेखों द्वारा लिखा, विभाग की नीतियों व कार्यक्रमों के विरुद्ध कुछ छापता ही रहता था। प्रतिक्रियाएं होती रहतीं, वे मुस्करा कर टालते रहते। उदयपुर में एक सेमिनार में 'शिविरा' के ताजे अंक में छपी 'गाइडेंस' की आलोचनात्मक टिप्पणी के विषय में कई लोगों ने नाराजगी व्यक्त की और एक ने तो तीखा प्रश्न पूछ लिया, "आपको पता भी है कि..." और इन्होंने मुस्कराकर उत्तर दिया, "मुझे सब पता है। आपकी राय भिन्न हो तो आप भी शौक से लिखिए, वह भी छपेगा। 'शिविरा' शिक्षा पर संवाद ही तो चाहती है!" और लौटकर मुझे अंक लेकर बुलाया, देखा और यह घटना सुनाई। शिक्षकों में प्रश्न करने और सहनशीलतापूर्वक संवाद कर सकने की शक्ति ही तो वे पैदा करना चाहते थे।

बड़े-बड़े गंभीर वैचारिक लेखों के लिए और शैक्षिक शोधों के लिए तथा उच्च कोटि की पुस्तकों पर चर्चा के लिए उन्होंने 'नया शिक्षक/टीचर टुडे' को नई शक्ति दी, उसे नया रूप देने में हमारी भरपूर सहायता की। मेरा अक्खड़पन काफूर हो गया। उन्होंने हमें इतना अपनत्व दिया कि फिर तो हम उनके हस्तक्षेप या 'काम हमारा या उनका' के भेद की बात भी भूल गए। उनका सपना हमारा सपना था और हमारा सपना उनका सपना था। इतना एकत्व पैदा करने में वे सफल हो गए।

एक साल 'विभागीय गजट' को शैक्षिक पत्रिका के रूप में चलाकर मैंने कुछ नया करने की सोची। 'गजट' में सरकारीपन था, 'लोगो' में राजस्थान का नक्शा व कीर्तिस्तंभ व्यर्थ के अभिमान और वैचारिक हदबंदियों के द्योतक थे। नाम बदलने का प्रस्ताव किया, विभागीय 'लोगो' हटाने की बात भी कही, सब उन्होंने माना। मैंने नाम सुझाया 'नचिकेता' जो सीखने की अनंत आकांक्षा का प्रतीक है। पसंद आ गया उन्हें किंतु उदयपुर गए तो एससीईआरटी (तब एसआईई) के निदेशक बुजुर्ग शिक्षाविद् बालगोविंदजी तिवारी ने कहा, "नाम है तो उपयुक्त किंतु 'यम' से जुड़ा है इस कारण इसमें 'मोर्बिडिटी' (मृत्यु का भाव) है।" लौटे और यह बात बताई तो मेरे साथी चतरसिंह मेहता को लेकर मैं बैठा और हम 13-14 नामों की एक सूची बनाकर पहुंचे बोर्दिया जी के पास रात 10 बजे। फौरन उन्हें 'शिविरा' नाम पसंद आ गया। सुबह अपनी कार पर भी लिखवा दिया 'शिविरा' और दफ्तर की फाइलों पर भी संख्याओं का प्रारंभ 'ईडीबी' की जगह 'शिविरा' से करना शुरू करवा दिया। नवीनता लाने में वे कैसी गजब की तत्परता रखते थे!

नवचिंतन और संवाद का अभ्यास कराने को ध्यान में रखकर दो शिक्षाधिकारी सम्मेलनों के आयोजन की परंपरा प्रारंभ की - एक शैक्षिक विषयों पर विचार के लिए और दूसरा प्रशासनिक विषयों के लिए। दोनों में वे शिक्षकों की सहभागिता के लिए शिक्षक संघों के प्रतिनिधियों को अवश्य बुलाते थे। शैक्षिक विषयों का सम्मेलन वे माउण्ट आबू में ग्रीष्मावकाश में रखते थे। संभागियों को पहाड़ पर आने का आकर्षण पैदा होता। ठंडक व ताजगी मिलती और विचार मंथन भी इत्मीनान से एकांत में अच्छा होता। देश के बड़े-बड़े शिक्षाविद् और विद्वान प्रोफेसर एनसीईआरटी तथा विश्वविद्यालयों या शिक्षक प्रशिक्षण महाविद्यालयों से बुलाए जाते। दयालचंद्र सोनी जैसे शैक्षिक संत मनीषी भी आते। संभागियों का ज्ञान बढ़ता, शैक्षणिक संवाद की शक्ति पैदा होती।

शिक्षाधिकारियों का दूसरा सम्मेलन होता प्रशासनिक सम्मेलन जो पहाड़ पर नहीं, मैदानी शहरों में बारी-बारी से अलग-अलग स्थान पर होता। वहां प्रशासनिक समस्याओं पर चर्चा होती और कई महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाते। विभाग सक्रिय हो जाता।

कोठारी आयोग का प्रतिवेदन आया। भारी पोथा था बड़े आकार का। कैसे पहुंचे सामान्य शिक्षकों व विद्यालयों तक। बोर्दिया जी ने 'सुबद्ध शिक्षा प्रकाशन' योजना प्रारंभ की और आयोग के प्रतिवेदन का

संक्षिप्त सारांश छपवाकर हर विद्यालय में पहुंचाया। उसी योजना के द्वारा 'विद्यालय संगम' 'प्रधानाध्यापक फोरम', 'विद्यालय पुस्तकालय', 'प्रयोग प्रायोजना', 'शिक्षानुसंधान' आदि आयोगों के प्रतिवेदनों में निर्दिष्ट प्रवृत्तियों की उपयोगी सूचना पुस्तिकाएं विद्यालयों-कार्यालयों तक पहुंचाई। उद्देश्य यही था कि शिक्षक और शिक्षाधिकारी शैक्षिक सूचना-सामग्री के प्रति जागरूक रहें। आयोग द्वारा निर्दिष्ट तमाम काम राजस्थान के विद्यालयों में शुरू करवा डाले।

एक और महा महत्वपूर्ण नवाचार हो गया 'शिविरा' के माध्यम से। 'विभागीय गजट' केवल विद्यालयों को जाता था और संस्था प्रधान के दफ्तर तक ही सीमित रहता था। नाम मात्र के मूल्य पर उपलब्ध कराई 'शिविरा' के हजारों शिक्षक ग्राहक बन गए। 'शिविरा' में (आठ) पृष्ठ बीच में आदेश-परिपत्रों के लिए सुरक्षित कर दिए गए। हर शिक्षक की बगल में नए-नए आदेश-परिपत्र आ गए तो वे अपनी सेवा संबंधी कठिनाइयां दूर करने का पुख्ता साधन पा गए, सचेत हो गए। घर बैठे 'सूचना का अधिकार' उन्हें प्राप्त हो गया। शिक्षकों को बिन मांगे मोती मिला। लोग अपने अधिकारों के लिए न्यायालयों की शरण में जाने लग गए। वरिष्ठता सूचियां बन ही गई थीं। वह भी बिन मांगे मिला। सूचना का अनमोल अधिकार था। पदोन्नति में त्रुटियां देखीं, आदेश-परिपत्रों का सहारा लिया और होने लग गई कानूनी कार्रवाइयां भी। बहुत बड़ी शक्ति शिक्षा विभाग के सभी शिक्षकों, अधिकारियों व कर्मचारियों के हाथ में आ गई। उनका सशक्तीकरण हो गया। था न यह भी एक महा-महिमामय प्रशासनिक नवाचार?

स्वभाव से कोमल भी थे और कठोर भी थे। उग्र और अनुभव में उनसे बड़े-बड़े अधिकारी जरा भी त्रुटि हो जाए तो डांट पड़ जाने से घबराते थे। कभी ऊंचा नहीं बोलते थे बोर्दिया जी। शब्दों का अपव्यय कभी नहीं करते थे। कोई ज्यादा होशियार बनता और अनावश्यक बहस को आगे बढ़ाता तो दो शब्द ही उसे सही राह पर लाने को काफी होते थे। तयोरियां चढ़ाकर कहते-"क्या कहा?" और सामने वाला उसके बाद एक शब्द बोलने की हिम्मत नहीं करता था। अपने सभी कुतर्क समेट लेता था।

इनके व्यक्तित्व की और भी कई विशेषताएं थीं। प्रशासक लोग खुद कोई राय नहीं रखते हैं, होती भी है तो व्यक्त करने से बचत हैं। ये राय रखते थे, व्यक्त करते थे तथा औरों की राय जानते भी रहते थे। समूह चर्चा में बैठते थे तो अपनी बात कहकर ध्यान से सभी को सुनते थे। फिर जो राय बनती थी वह समूह की राय बनती थी। कभी उसमें उनकी पूर्ण सहमति या आंशिक सहमति होती थी, लेकिन कभी-कभी अपनी सहमति न भी होती तो समूह की राय को स्वीकृति दे दिया करते थे। यह कह सकना आसान नहीं है। ऐसा वही कर सकता है जो सबको साथ लेकर चलने की इच्छा रखता हो और खुद लोकतांत्रिक पद्धति को प्यार करता हो। इनमें ये दोनों गुण थे। मात्र नाम को या मात्र दिखाने के लिए नहीं बल्कि वास्तव में अंतःकरण से।

इनका निराला स्वभाव था। सदैव प्रसन्नचित रहते थे। विषय प्रतिपादन करते तो जितने गंभीर होते थे उतने ही हंसमुख भी रहते थे। किसी भी विषय पर बोलते तो इतनी निष्ठा से बोलते थे कि चेहरे पर और आंखों में चमक रहती थी। उनकी आंखें बताती थीं कि वे मात्र बोलने के लिए नहीं बोल रहे हैं। उनकी आंखें और उनके हावभाव बताते थे कि वे विषय से कितना गहरे जुड़े हुए हैं। उनकी वाणी में चिंता होती थी, चिंतन होता था। ध्यान से सबको सुनते थे। विस्तार से नोट्स लेते थे। जो विषय प्रस्तुत किया है, उन्होंने, और जो कहा है आमंत्रित विद्वानों-विचारकों ने, उसे कितना समझे हैं श्रोता संभागी, इस बात पर चिंतित रहते और कब क्या आगे करना चाहिए इस पर विचार करते रहते, चर्चा विमर्श जारी रहता था। कभी कोई काम किसी को सौंपते तो कोई काम किसी को। यह करने के लिए टंकित पत्रों के अलावा हाथ से पत्र लिखने में भी संकोच नहीं करते थे। मेरा तो ख्याल है कि वे नैकट्य की वृद्धि का भाव लेकर ही हाथ से पत्र लिखा करते थे। नैतिक दबाव बढ़ाने के लिए ही वे शायद ऐसा करते हों। नैकट्य होगा तो नैतिक दबाव भी बढ़ेगा ही। औपचारिकता में दूरत्व रहता है, अनौपचारिकता में नैकट्य बढ़ता है। इसीलिए 'जनसत्ता' दैनिक दिल्ली, ने उनके निधन की जब खबर दी तो 'शिक्षाकर्मी' विशेषण का प्रयोग किया और 'विनायक' दैनिक, बीकानेर

ने 'जनसत्ता' की सूझबूझ की सराहना की। 'शिक्षाकर्मि योजना' के खुद जो जनक थे वे शिक्षक, प्रशासक, शिक्षाविद् या शिक्षाशास्त्री विशेषण की सीमा में कैसे समाते? वे जिसके भी साथ काम करते उसके साथी बनकर काम करने में ही आनंद अनुभव करते थे। अपने-आपको सबका सहकर्मी मानते थे।

एक घटना सुनाता हूँ। ऊपर मैंने एक जगह कहा है कि मैंने इनसे मेरे काम में हस्तक्षेप बिलकुल न करने का भरोसा ले लिया था, लेकिन तब ये अधिकारी थे और मैं स्वाभिमानी शिक्षक। मैंने इनमें पहली मुलाकात में ही अपने स्वाभिमान व स्वतंत्रता की रक्षा के लिए कह दिया था कि आपकी मेरी पटनी नहीं। मेरा काम पसंद न आए तो निःशंकभाव से कह दीजिएगा। मैं किसी भी गांव के स्कूल में जाने को तैयार रहूंगा। वह नौबत आई थी पर उसका जिक्र थोड़ा बाद में। अभी तो यह बता रहा था कि हम दोनों के बीच ऐसा समझ का भाव बन गया कि मम और ममेतर का अंतर रहा ही नहीं। दोनों संभागी हो गए एक ही काम के। संपादकीय मैं भी लिख देता, इनके मन में आती तो संपादकीय ये भी लिख देते। एक दिन इन्होंने संपादकीय लिखा, मेरा साथी जाकर इनसे ले आया और प्रेस भेजने लगा। मैंने पढ़ा तो मैं उखड़ गया। मेरा साथी बोला निदेशक से लड़ोगे क्या? मैं नचिकेता की भूमिका में था (आज भी हूँ), यम से भी लड़ने को तैयार। मैंने कहा, "ज्ञान की बात जहां होती हो वहां कोई भिन्न भाव नहीं हो सकता।" उस संपादकीय में बोर्दिया जी ने गीता को याद करते हुए, 'संशयात्मा विनश्यति' मुहावरे की तरफदारी की थी। मैंने साथी के हाथ से कागज ले लिया और पहुंचा तत्काल बोर्दिया जी के पास। कुछ लोगों से घिरे बात कर रहे थे। मैंने कहा थोड़ी जरूरी बात करनी है। उन्होंने बैठक बर्खास्त कर दी और मेरी ओर देखा। मैंने कहा यह जो दृष्टि आपने गीता की व्यक्त की है वह यहां अनुकूल नहीं है। यहां परिप्रेक्ष्य दूसरा है, यहां प्रयोजन-परिप्रेक्ष्य सभी कुछ अलग है। यहां तो हमें संशय करना, प्रश्न करना ही सीखना-सिखाना है। यहां तो संशय न करो तो विनश्यति होने वाला है। काफी विस्तार से हंसते-मुस्कराते वे मेरा प्रलाप सुनते रहे क्योंकि मैं पूरी निष्ठा व जोश से अपनी दलीलों पर दलीलें रखता जा रहा था। उनका बड़प्पन देखिए कि उन्होंने जरा भी बुरा नहीं माना और सहमति व्यक्त करके मेरे हिसाब से उसे वापस लिखने की अनुमति दे दी। बड़प्पन कहें या समझदारी या लोकतांत्रिक पद्धति में विश्वास या मैं तो कहूंगा कि सीखते रहने का उनका यह खुलापन था। वे सतत अनवरत जिज्ञासु बने रहने की सदैव व तत्पर रहते थे। प्रशासक होते हुए भी उनके जीवन का ज्यादा भाग शिक्षार्थी और शिक्षा-मर्मज्ञ बनने में बीता। दृष्टि प्रगतिशील थी। ज्ञान का दंभ जरा भी नहीं था। मौलिक विशेषता यही थी कि दकियानूसी विचार जरा भी बर्दाश्त नहीं होते थे। प्राचीन और आधुनिक में वे उसे ही चुनते थे जो समाज को नई दृष्टि, नई दिशा और रचनात्मक सोच दे। धार्मिक बंधनों से वे सर्वथा मुक्त थे।

जिस पर विश्वास करते थे उस पर पूरा विश्वास करते थे। मुझ पर विश्वास किया। एक बार किसी बात पर इतनी तीव्र असहमति हो गई कि तैश में आकर मैं पेंसिल से ही कार्यमुक्ति का लंबा प्रार्थना पत्र इनकी टेबल पर रख आया। शाम दफ्तर का काम निपटाकर उठे तो कार लेकर सीधे मेरे घर आए। बारिश के दिन थे। मैं जिस गली में रहता था वह कीचड़ से भरी थी। मेरे घर आने को केवल एक ही मार्ग था। मकानों के समूह के बगल में बनी नाली की जरा-सी उठी दीवार पर पांव रख-रख के आना। वे उसके सहारे भी आए और बिना बिस्तर की बांस की मचली (मूंज का हल्का मांचा) की बदाण (पौताने की डोरियां) पर बैठकर मेरा कागज फाड़कर वहीं डाला और बोले, "इतना नाराज क्यों हो गए? आपकी सारी बात मानी। अब तो खुश? कहीं जाना नहीं है। यहीं रहोगे।" और मैं वहां, जहां इन्होंने बोरुंदा से लाकर बिठाया था उसी निदेशालय में 1965 से 1988 तक रहा और वहीं से सेवानिवृत्त हुआ। सारी पदोन्नतियां वहीं पाईं। इसे क्या कहें? उनका बड़प्पन, कार्यकुशलता, मानवीयता या सच्चे कर्मयोगी के भाव से परिपूर्ण अद्भुत योग्यता?

मैं सेवानिवृत्त हो गया 1988 में। गांव आकर रहने लगा। गांव में 'लोक जुम्बिश्' के काम आए हों या 'दूसरा दशक' के काम, मुझसे जो प्रेमडोर बांधी थी व अंत तक निभाई। दूर चौक में गाड़ी खड़ी करके, पैदल गली-गली चलकर मेरे घर आते और पूरे परिवार से मिलकर आत्मीयता की वर्षा कर जाते। उनके सामने मैं क्या था? लेकिन वे ज्ञान पिपासु थे और मैं था संशयात्मा। ज्ञान का खोजी। शिक्षा संसार की

इधर-उधर की बातें हम करते और वे इसी से संतुष्ट हो जाते। थोड़े में भी खूब संतुष्टि व्यक्त करते थे। तभी तो हम लोगों का उत्साह बढ़ता था, साहस बढ़ता था। ज्ञान का भण्डार वे थे। पूरी दुनिया में विचरण उन्होंने किया था। दुनिया भर के जिन श्रेष्ठ शिक्षाविदों की हम श्रद्धापूर्वक पुस्तकें ही पढ़ा करते थे उनसे वे साक्षात् मिलते थे। प्रो. डी. एम. मुखर्जी, प्रो. जे. पी. नायक, प्रो. यशपाल, प्रो. एस.एन.मुखर्जी, प्रो. एम. बी.बुच आदि से उनकी कितनी घनिष्ठता थी यह हमने कई बार देखा था। विदेश यात्राएं तो उनकी होती ही रहती थीं। कनाडा में रूबी किड के साथ काम किया, ईवान इलिच के भारत में भाषण कराए, पावलो फ्रेरे से यूरोप में मिले, पेरिस में यूनेस्को इंटरनेशनल इंस्टीट्यूट ऑफ एज्युकेशनल प्लैनिंग में पढ़ाया। हैम्बर्ग की यूनेस्को इंस्टीट्यूट फॉर एज्युकेशन के वाइस चेयरमैन रहे और जिनेवा की इंटरनेशनल ब्यूरो ऑफ एज्युकेशन के अध्यक्ष भी रहे। भारत सरकार के शिक्षा सचिव रहे तब नई शिक्षा नीति लागू की जो एनसीईआरटी की राष्ट्रीय पाठ्यचर्या रूपरेखा (नेशनल करिक्युलम फ्रेमवर्क) 2005 का आधार बनी।

इनका जन्म इंदौर में 1934 में हुआ था और उदयपुर में पढ़े थे जहां इनके पिता केशरीलाल बोर्दिया तब के श्रेष्ठ आदर्श शिक्षकों में गिने जाते थे। पिता से शिक्षा प्रेम मिला और 1957 में आई.ए.एस. हुए तो प्रबंधन प्रशासन की निपुणता हासिल कर ली। दोनों गुणों में ज्यादा प्रयोग शिक्षा प्रेम का किया - देश की 'शिक्षानीति' से लेकर 'लोक जुम्बिश' व 'दूसरा दशक' तक वे भरपूर निपुणता के साथ शिक्षा की सेवा ही करते रहे। दक्षिण अफ्रीका और नाईजीरिया की सरकारों ने उन्हें शिक्षा सलाहकार के रूप में बुलाया।

राजस्थान में शिक्षा विभाग के वे निदेशक रहे। जयपुर, बीकानेर, अजमेर और कोटा में इन्होंने प्रौढ़ शिक्षा समिति की स्थापना की। जयपुर में राजस्थान प्रौढ़ शिक्षण समिति तथा राज्य संदर्भ केंद्र की स्थापना की। केंद्रीय सरकार में शिक्षा सचिव हुए तो पूरे देश में नेहरू युवक केंद्रों की तथा राज्य संदर्भ केंद्रों की स्थापना की। शिक्षा के सार्वजनिकरण के लिए प्राथमिक शिक्षा, अनौपचारिक शिक्षा और प्रौढ़ शिक्षा के प्रसार में रुचि ली और ढूंढ-ढूंढकर निष्ठावान समर्पित कार्यकर्ताओं, शिक्षाविदों तथा समाज के जागरूक वर्ग को मिलाकर काम करने की व्यापक अभियान छेड़ दिया। बिहार एज्युकेशन प्रोजेक्ट चलाया। महिलाओं की शिक्षा के लिए 'महिला समाख्या कार्यक्रम' की शुरुआत की जिसमें देशभर की महिलाओं ने उत्साहपूर्वक भाग लिया। शिक्षाकर्मी योजना 1987 में प्रारंभ की तो हजारों ग्राम्य शिक्षकों को पढ़ाने के नए तरीकों में प्रशिक्षित किया और उनके कार्य की देख-रेख गांवों की शिक्षा समितियों को सौंपी। 'लोक जुम्बिश' और 'दूसरा दशक' में भी यही तरीका अपनाया। गांव-गांव में शिक्षा की अलख जगाने के इनके सघन प्रयासों को देख यूनेस्को ने 1996 में एसीआईडी (एशिया पैसिफिक सेंटर ऑफ एज्युकेशन फॉर डिवेलपमेंट) बैंगकॉक का फैलो चुना और 1999 में यूनेस्को ने इनकी इन्हीं विशेष सेवाओं के लिए प्रतिष्ठित एविसेना स्वर्ण पदक तथा 2010 में महात्मा गांधी स्वर्ण पदक से सम्मानित किया गया।

विनम्रता का नमूना देखिए। वंचितों की शिक्षा व ग्राम विकास के विशेष कार्यों के लिए जब यूनेस्को ने आपको महात्मा गांधी स्वर्ण पदक देना चाहा तो दिल्ली के कमानी ऑडिटोरियम में न लेकर फलौदी के पास एक पिछड़े गांव देगावड़ी की गरीब जनता और 'दूसरा दशक' के अंतर्गत पढ़ने वाले किशोर-किशोरियों के बीच लिया। हमें नहीं पता था कि यूनेस्को के डायरेक्टर हमारे कस्बे फलौदी क्यों आए हुए हैं। फिर जब शाम बोर्दिया जी मुझसे मिलने मेरे घर आए (शारीरिक अशक्तता के कारण मैं कहीं आ जा नहीं सकता हूं, यह वे जानते थे, इस कारण इस नाचीज के घर वे अक्सर आया करते थे) और मैंने जिज्ञासा की तो जेब से हौले से गोल्ड मैडल निकाला और मुझे दिखाया। राघवेन्द्र जी साथ थे। उन्होंने यूनेस्को डायरेक्टर द्वारा एक छोटे से गांव में आकर बोर्दिया जी को इस मैडल से सम्मानित करने की बात बताई। कैसी सादगी और कैसा विनय भाव! कोई धूम-धड़ाका नहीं, कोई प्रचार-प्रसार नहीं। मित्रों को पता चला तो देर से जाकर 'अनौपचारिक' में सचित्र खबर छपी।

भारत सरकार ने 'शिक्षा क्षेत्र में आजीवन सेवा' के लिए इन्हें 2010 में पद्मभूषण से अलंकृत किया, तो एक मजेदार बात हुई। जिस वर्ष (2010) और जिस विषय (शिक्षा व संस्कृति) में बोर्दिया जी को पद्मभूषण दिया

गया उसी वर्ष उसी विषय में बोर्दिया जी के गुरु प्रो. मोहम्मद अमीन को भी पद्मभूषण दिया गया। प्रो. अमीन ने सेंट स्टीफेंस में 43 वर्ष इतिहास पढ़ाया था और वे बोर्दिया जी को भी वर्षों पहले पढ़ा चुके थे। सेंट स्टीफेंस ने गुरु-शिष्य दोनों को साथ बिठाकर भव्य समारोह आयोजित किया और हर्ष मनाया। यह घटना भी इतिहास बन गई।

सरकारी कामकाज से निवृत्ति के बाद 1992 में इन्होंने राजस्थान सरकार की सहभागिता से प्राथमिक शिक्षा के सघन व्यापक प्रसार के लिए 'लोक जुम्बिश' नाम का एक नया जन-अभियान प्रारंभ किया। अत्यधिक सरकारी दखल से उकता कर जब वे 'लोक जुम्बिश' से अलग हो गए तो 2010 में 'दूसरा दशक' नाम से एक और जन-अभियान प्रारंभ कर दिया। इस अभियान में 11 से 20 वर्ष के उन ग्रामीण किशोर-किशोरियों को शिक्षा दी जाती है जो शिक्षा से वंचित रह गए हैं।

हिन्दी और अंग्रेजी के अलावा श्री बोर्दिया जी थोड़ी जर्मन व फ्रेंच भी जानते थे और बंगाली व उर्दू के अच्छे जानकार थे। एक मुशायरा उन्होंने आयोजित कराया तो मैं भी उसमें रातभर बैठा था। उर्दू शायरों को और हिंदी-राजस्थानी कवियों-लेखकों को भी प्रोत्साहन का कार्यक्रम हाथ में ले लेते थे। पहले हिंदी, उर्दू और राजस्थानी लेखकों को प्रोत्साहन दिया, विभाग से छपवा कर या केंद्रीय क्रय करके, फिर शिक्षक लेखकों के प्रोत्साहन के लिए 'शिक्षक दिवस प्रकाशन' नाम की एक नई योजना प्रारंभ कर दी जिसके अंतर्गत राजस्थान के शिक्षकों के कहानी, कविता, निबंध संग्रह तथा राजस्थानी रचनाओं का संग्रह व बालोपयोगी रचनाओं का संग्रह 5 सितम्बर को प्रकाशित होने लगे। सम्मानित शिक्षकों को प्रमाण पत्रों के साथ 'शिक्षक दिवस प्रकाशनों' का सैट भी भेंट किया जाने लगा। यह प्रथा आज भी जारी है। अब कुछ वर्षों से इस सैट में शिक्षकों के शिक्षा संबंधी निबंधों का संग्रह भी शामिल किया जाने लगा है। दो शैक्षिक पत्रिकाओं - 'शिविरा पत्रिका' (मासिक) तथा 'नया शिक्षक/टीचर टुडे' (त्रैमासिक) के जरिए वे शिक्षकों में चिंतन, चेतना व लेखन की योजना क्रियान्वित कर ही चुके थे। शैक्षिक और साहित्यिक दोनों प्रवृत्तियों को उनकी इन योजनाओं ने गतिमान कर दिया। शिक्षा और साहित्य के क्षेत्र में राजस्थान के शिक्षकों को आगे बढ़ता देखना चाहते थे। खुद भी स्वाध्यायी थे। नए से नए साहित्य पर उनकी हरदम नजर रहती थी। सामाजिक-सांस्कृतिक बदलाव की शिक्षा में विश्वास करते थे और दिन-रात इसके लिए कार्यनिष्ठ योगी की तरह सौम्य भाव से जुटे रहते थे। सीखते थे और सिखाने के उपाय भी करते रहते थे।

हमने उनके व्यक्तित्व और कर्तव्य का वह पहलू यहां प्रस्तुत किया है जो हमने करीब से देखा और अनुभव किया है। भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय में, लोक जुम्बिश में, दूसरा दशक में और विदेशों में इन्होंने जो काम किया उसके भी कई पहलू हैं। विशद व्यक्तित्व था उनका। खूब बड़े पैमाने पर कई काम किए। शिक्षा-जगत उनका चिर ऋणी रहेगा। ♦